Shodh Sangam Patrika
E-ISSN: 3049-0707, Volume 3 | Issue 1 | (Jan – Mar 2026)

संगीत की उपशास्त्रीय विधाओं का अवलोकन

डॉ. प्रियंका कुमारी
संगीत शिक्षिका, उच्च माध्यमिक विद्यालय, थरूआही, लौकही, मधुबनी।

सारांश

वैदिक काल से ही भारतीय संगीत की अपनी एक अलग पहचान रही है, जो जनसाधारण को मनोरंजित करता रहा है। यह संगीत अपने-अपने क्षेत्रों में अलग-अलग भाषा लिए होने के अलावा अनेकता में एकता लिए हुए है। समय-समय पर एक-दूसरे स्थानों में इसका प्रचार-प्रसार होता रहा है, जिसमें आज सुलभता के कारण दूरदर्शन, रेडियो, इंटरनेट आदि का प्रमुख स्थान है। पंडित शारंगदेव ने गायन, वादन एवं नृत्य की त्रिवेणी को संगीत कहा है, जिसमें गान्धर्व कलाओं में गान को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। संगीत में वाद्ययंत्रों का निर्माण गीत के बाद संगत करने के लिए किया गया। प्राचीनकालीन संगीत का अध्ययन करने से हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सर्वप्रथम अनिबद्ध गान का प्रचार था, जिसके चार प्रकार प्रचलित थे— रागालाप, रूपकालाप, आलप्ति और स्वस्थान। उसके पश्चात् संगीत में गायन के साथ लय देने के लिए झांझ, मंजीरा, डमरू आदि का प्रयोग किया जाने लगा। धीरे-धीरे उसके साथ वीणा, मृदंग, दरदुर आदि वाद्ययंत्रों का भी प्रयोग किया जाने लगा, जिससे उसकी गणना निबद्ध संगीत के अंतर्गत होने लगी।

मुख्य शब्द: उपशास्त्रीय, ठुमरी, संगीतज्ञ, ताल, शैली, संगीत।

मूल आलेख

पंडित शारंगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर में निबद्ध गान के तीन प्रकारों का वर्णन किया है, जो प्रबंध, वस्तु एवं रूपक हैं। इस प्रकार संगीत में गायन एवं वादन प्रारंभ हुआ। इसके साथ नृत्य का लगाव लगभग बाद में हुआ, ऐसा माना जाता है। इस प्रकार संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य को जोड़कर इसकी पूर्णता की गई। प्राचीन काल में पूरे भारत में संगीत की केवल एक पद्धति प्रचलित थी, लेकिन मध्यकाल में प्रवेश करते-करते शारंगदेव के समय के बाद भारत में संगीत की दो पद्धतियों का उदय हुआ, जिन्हें हिन्दुस्तानी संगीत एवं कर्नाटकी संगीत कहा जाता है। भारत में संगीत की इन दो पद्धतियों के होने का मुख्य कारण भारत पर विदेशियों का आक्रमण था।

चूँकि 11वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारत पर विदेशियों का आगमन होने लगा था और यूनान तथा फारस के लोग यहाँ आकर बसने लगे थे। इन विदेशी शासकों के साथ उनके संगीत कला मर्मज्ञ भी भारत आए, जिसका प्रभाव धीरे-धीरे भारतीय संगीत पर पड़ने लगा। उनके साथ प्रसिद्ध संगीतज्ञ हजरत निजामुद्दीन औलिया और उनके प्रमुख शिष्य अमीर खुसरो के अतिरिक्त कई यूनानी कलाकार भारत आए। यूनानी संगीत का प्रभाव मुख्य रूप से उत्तर भारत पर पड़ा, क्योंकि भारत में मुसलमानों का प्रवेश अफगानिस्तान होते हुए पंजाब के रास्ते हुआ था। उनका उपनिवेश उत्तर, मध्य भारत, पूरब एवं पश्चिम क्षेत्र तक ही सीमित रहा। यहाँ की मौसम एवं जलवायु उनके अनुकूल होने के कारण विदेशी लोग इधर ही सिमटकर रह गए। दक्षिण भारत की भौगोलिक स्थिति अनुपयुक्त होने के कारण विदेशी प्रभाव से अछूता रहा। इस तरह उत्तर भारत में यूनानी एवं भारतीय संगीत के मिश्रण से एक नवीन संगीत-शैली का उदय हुआ, जिसे हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति कहा गया। इस प्रकार भारत में दो संगीत पद्धतियों का उदय हुआ। शारंगदेव ने अपने ग्रंथ में संगीत की एक ही पद्धति का वर्णन किया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनके बाद नवीन पद्धति का प्रचार हुआ। आज भी संगीत रत्नाकर ग्रंथ को एक अविभाज्य ग्रंथ के रूप में माना जाता है, जिसे सम्पूर्ण भारत के संगीत विद्वानों के बीच एक आधार ग्रंथ के रूप में पूज्य माना जाता है। दोनों संगीत-पद्धतियों का उद्गम स्थान एक होने के कारण अनेक समानताएँ एवं भिन्नताएँ हैं। कुछ गायन-शैलियों एवं रागों

के नाम समान हैं, लेकिन उनका स्वरूप भिन्न है; कहीं नाम भिन्न है, लेकिन उनका स्वरूप समान है, जिसके बारे में अध्ययन एवं श्रवण करने से हमें जानकारी प्राप्त होती है।

उत्तर भारतीय संगीत में गायन मुख्य रूप से दो प्रकार के प्रचलित हैं, जिन्हें शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय संगीत कहा जाता है। शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत ध्रुपद, ख्याल, तराना, चतुरंग आदि गायन-शैलियों का समावेश हुआ है, जो एक नियमबद्ध रचना हैं। इन गायन-शैलियों में राग-स्वरूपों का बहुत ध्यान रखा जाता है। संगीत के दूसरे प्रकार, उपशास्त्रीय संगीत के अंतर्गत ठुमरी, टप्पा, कजरी, चैती, होरी, दादरा आदि गायन-विधाओं को रखा गया है। इन शैलियों के नियम शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा राग-मुक्त होते हैं, जिनमें श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है। इन शैलियों में क्षेत्रीय एवं सुलभ शब्दों का प्रयोग किया जाता है, जिसे साधारण लोग भी समझ पाते हैं। सौन्दर्य एवं श्रृंगार रसों से युक्त इस गायन-शैली का प्रचार-प्रसार आधुनिक काल में अत्यधिक हो रहा है। इन गायन-शैलियों के कुछ संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं—

ठुमरी: यह एक आधुनिककालीन गायन शैली है, जो श्रृंगार रस से ओत-प्रोत होती है। इसमें स्वर, लय, ताल एवं शब्दों के माध्यम से श्रृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। इसके पदों में अधिकतर युगल प्रेमियों से जुड़ा होता है। इस समय इसका प्रचार इतना अधिक है कि आज प्रत्येक क्षेत्र में संगीत से संबंधित जितने भी जिज्ञासु श्रोता हैं, सभी की जुबान पर इस शैली का नाम अवश्य ही रहता है। इस शैली में नायक-नायिका के बीच प्रेम का वर्णन शास्त्रीय संगीत की अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक होता है, इसलिए इसे महिला-प्रधान गायन शैली माना जाता है, लेकिन इस शैली का गायन पुरुष भी अत्यंत ही प्रभावशाली ढंग से किया करते हैं। संगीत के विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति 'ठुम' और 'री' शब्दों के मिश्रण से मानी है, जिसमें 'ठुम' शब्द का अर्थ राधा की ठुमकती चाल, ठुमका, ठुमकी, ठिठोली आदि माना गया है और 'री' का अर्थ राधा द्वारा भगवान श्रीकृष्ण को रिझाने की बात कही गई है। इसकी उत्पत्ति लगभग 18वीं शताब्दी में लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में हुई, ऐसा भी संगीतज्ञों के बीच मान्यता रही है। इसका गायन मुख्य रूप से दो प्रकार से किया जाता है— बोलबांट की ठुमरी और बोलबनाव की ठुमरी। बोलबांट की ठुमरी को बंदिश की ठुमरी भी कहा जाता है, जिसमें शब्दों की अधिकता होती है। बोलबनाव की ठुमरी में शब्दों का प्रयोग कम किया जाता है तथा उन्हीं शब्दों को विभिन्न प्रकार से बोलबनाव करके अलग-अलग भाव प्रकट किए जाते हैं। आधुनिक काल में मुख्य रूप से इसके तीन अंग या घराने प्रचलित हैं, जो पूरब अंग, पंजाब अंग और गया अंग के नाम से विख्यात हैं।

टप्पा: टप्पा शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'टप्पना' शब्द से हुई है, जिसका साधारण अर्थ उछलना, कूदना, छलांग लगाना तथा एक प्रकार से चलते हुए गाया जाने वाला गीत होता है। टप्पा मुख्य रूप से पंजाब प्रदेश की लोकगीत शैली है, जो वहाँ के ऊँटहारों द्वारा चलते हुए गाया जाता है। इस लोकगीत को एक नए स्वर-स्वरूप एवं शब्दों के द्वारा रंग-ढंग देकर नवीन गायन-शैली के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय गुलाम रसूल के पुत्र 'शोरी मियाँ' या गुलाम नबी 'शोरी' को जाता है। इसका गायन मुख्य रूप से 16 मात्रा के पंजाबी ताल में अतिद्रुत लय में किया जाता है, जिसका प्रारंभ अधिकतर 12वीं मात्रा से किया जाता है और उसमें दानेदार तानों का प्रयोग किया जाता है। आधुनिक काल में यह भी एक लोकप्रिय गायन-शैली मानी जाती है, जिसमें श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है।

होरी: होरी शब्द का संबंध उपशास्त्रीय संगीत के अंतर्गत धमार गायन-शैली के साथ जोड़ा गया है, क्योंकि धमार गायन-शैली में होरी के साहित्य का वर्णन मिलता है। इसकी उत्पत्ति प्राचीनकालीन चर्चरी नामक प्रबंध से मानी गई है। यह एक प्राचीनकालीन गायन-शैली है, जिसका वर्णन हमें वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है। यह एक लोक एवं त्योहार गीत का प्रकार है, जो आधुनिक काल में शास्त्रीय गायकों के गले में आने के कारण इसमें स्वरों एवं शब्दों के प्रयोग होने से उपशास्त्रीय शैली के अंतर्गत माना जाता है। इसका गायन मुख्य रूप से होरी पर्व के अवसर पर किया जाता है, जिसके पदों में राधा-कृष्ण से संबंधित शब्दों का ज्यादातर प्रयोग किया जाता है। इसके गायन में संगति करने के लिए 14 मात्रा के धमार ताल

का प्रयोग किया जाता था, लेकिन आधुनिक काल में इस ताल के अलावा कहरवा, दादरा, रूपक आदि तालों का भी प्रयोग किया जाता है।

कजरी: कजरी शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'कज्जल' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ कालिमा, कालौह, कालिख आदि होता है। यह एक प्रकार का ऋतु गीत है, जो मुख्य रूप से श्रावण-भादो महीने में गाया जाता है। इस शैली का गायन वैसे तो संपूर्ण उत्तर भारत में किया जाता है, लेकिन इसका प्रमुख केंद्र उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर को माना गया है, जहाँ इसका गायन पूरे रीति-रिवाज के साथ किया जाता है। बरसात की ऋतु में कजरी की नायिका अमराई में झूला डालकर अपने प्रेमी को याद करते हुए इस विरह गीत का गायन करती है।

दादरा: दादरा गायन-शैली ठुमरी विधा से बहुत मिलती-जुलती है। यह हिन्दुस्तानी संगीत की एक बहुत खनकदार गायन-शैली है, जिसका गायन करते समय ऐसा प्रतीत होता है मानो झरने से झर-झर पानी गिर रहा हो। इसकी उत्पत्ति के संबंध में ऐसा माना जाता है कि जब ठुमरी शैली को दादरा ताल में गाया गया, तो इससे एक नवीन गायन-शैली का जन्म हुआ, जिसका नाम उसी ताल के नाम पर 'दादरा' रखा गया। आधुनिक काल में कई दादरा गीत दादरा के अतिरिक्त अन्य तालों में भी गाए जाते हैं। इसमें भावानुकूल शब्द जैसे— सैंया, सांवरिया, रसिया, यह पुकारते हुए संबोधन, का करूँ, कैसे जाऊँ, तुम जाओ आदि मनमोहक शब्दों का प्रयोग बहुत ही मधुरता एवं कोमलता के साथ किया जाता है।

चैती: यह एक ऋतु-गीत का प्रकार है, जो मुख्य रूप से चैत महीने में गाया जाता है। इन गीतों में भगवान राम की लीलाओं का वर्णन रहता है। होली के प्रारंभ के साथ ही चैत महीने की शुरुआत होती है, तब से इस गीत का गायन किया जाता है। चैती के इस समय में हवा में एक सुखकारी मनमोहकता होती है, पके हुए गेहूँ की फसल की खुशबू, नदियों का ठंडा जल— ऐसे वातावरण में इस गीत का गायन अत्यंत ही मनमोहक होता है। इस शैली का गायन लोक एवं उपशास्त्रीय दोनों के अंतर्गत किया जाता है। कुछ संगीत के विद्वान उपशास्त्रीय संगीत के अंतर्गत गाए जाने वाले को चैता भी कहा करते हैं। इस शैली में चैती के शब्दों को विभिन्न प्रकार के स्वर-समूहों में पिरोकर ठुमरी की भाँति ही बोलबनाव किया जाता है, जो इसे लोक संगीत से अलग करता है।

निष्कर्ष:

वैदिक काल में भी संगीत की मुख्य रूप से दो धाराओं का प्रचलन था, जिसे सामगान और गाथागान के नाम से उल्लेख मिलता है। गाथा-गान का ही परिवर्तित रूप वर्तमान में उपशास्त्रीय शैली मानी जाती है। वर्तमान में इस शैली का गायन वृहद् पैमाने पर किया जाता है और इसके रसिक श्रोता भी अधिक हैं। सामान्यतः इस शैली की लोकप्रियता सामान्य लोगों के बीच अधिक दिखाई देती है। लोगों के बीच अधिक लोकप्रियता होने के कारण ही आज अधिकतर शास्त्रीय गायक-गायिकाएँ, यथा पंडित साजन मिश्रा, परवीन सुल्ताना, सुहानी कोरटकर, राम कुमार मिश्र आदि, भी इसका गायन कुशलतापूर्वक अवश्य ही करते हैं। वर्तमान समय में शास्त्रीय संगीत के मंचों पर प्रस्तुत की जाने वाली यह एक लोकप्रिय शैली मानी जाती है।

संदर्भ ग्रंथ

1. सिंह, ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 407
2. पाण्डे, डॉ. आसा, मध्यकालीन संगीत शैलियों का उद्गम एवं विकास, पृ. 24
3. शुक्ल, डॉ. शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, पृ. 07
4. बृहस्पति, आचार्य, संगीत चितामणि, पृ. 83

5. कारवल, श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय, पृ. 15
6. पैन्तल, डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परम्परा, पृ. 73
7. हिन्दुस्तानी संगीत में होरी गान, डॉ. नीता माथुर, पृ. 16
8. पैन्तल, डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परम्परा, पृ. 82